# फिल्मों में गाली गलौच यानी नई धारा की फिल्म

बीते दिनों ‘उड़ता पंजाब’ फिल्म पर उठे विवाद का अंत मुंबई उच्च न्यायालय के फैसले से हुआ जिसने फिल्म को लगभग बिना किसी काट-छांट के पास कर दिया। लेकिन इसी विवाद पर सुनवाई करते हुए अदालत ने फिल्मकारों पर एक महत्वपूर्ण टिप्पणी की, ”आज सोशल मीडिया और 24 घंटे चलने वाले टीवी सीरियल के दौर में दर्शकों का ध्यान खींचना जरूरी है। हमें नहीं लगता कि फिल्मकार ऐसा कर पाएंगे अगर वे फिल्मों में ऐसे ही गालियों-अपशब्दों का इस्तेमाल कर अपनी फिल्म की गुणवत्ता गिराते रहेंगे। उन्हें एक संतुलन लाना चाहिए और वृहत्तर जनहित का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि उनकी भी एक जिम्मेदारी है !” यहां बता दें कि सेंसर बोर्ड ने फिल्म में मादक पदार्थों के महिमामंडन और गालियों के अत्यधिक प्रयोग पर आपत्ति करते हुए कई काट-छांट की सिफारिश की थी।

उसी ‘उड़ता पंजाब’ विवाद पर मुंबई में प्रेस कॉन्फ्रेंस करते हुए फिल्मकारों में से एक ने इस फिल्म के सह निर्माता फिल्मकार अनुराग कश्यप को ‘हिंदी सिनेमा का चे गुएआरा’ बताया। अति उत्साह में की गई इस अजीब-सी तुलना के पीछे तर्क शायद यह था कि अनुराग कश्यप हिन्दी सिनेमा के चिरविद्रोही हैं और सिर्फ समाज को झकझोर देने वाली फिल्में ही बनाते हैं। अनुराग शायद हिन्दुस्तानी फिल्मकारों के उस आधुनिक समूह के प्रतिनिधि हैं जिनकी सोच यह है कि फिल्में सिर्फ स्वान्त : सुखाय बनाई जानी चाहिए। फिल्मकारों की समाज के प्रति कोई जिम्मेदारी नहीं है और उनकी सबसे बड़ी ताकत उनकी सिनेमाई स्वंतत्रता है। यह स्वंत्रता अपने मन के अनुरूप फिल्में बनाने से लेकर उन्हें सिनेमाघरों तक पहुंचा देने की है, भले ही कई बार दर्शक उन्हें सिरे से नकार दें और उनकी फिल्मों में पैसे लगाने वाले प्रोड्यूसरों के पैसे डूब जाएं।
कहना न होगा कि यहां स्वतंत्रता पर स्वच्छंदता हावी है। यह स्वच्छंदता आजकल फिल्मों में बेलगाम गालियों, सेक्स से भरे दृश्यों, अत्यधिक हिंसा और कई बार भौंडी सेक्स कॉमेडी के तौर पर दिखती है।

ताजा फिल्म ‘रमण राघव’ हो या पिछली असफल व्यावसायिक फिल्म ‘बॉम्बे वेलवेट’, या गणतंत्रीय ढांचे को तोड़ कर सामंतवाद को पुन : स्थापित करने का सपना देखने वालों पर बनी ‘गुलाल’, या फिर शरत चन्द्र के देवदास को अपने अंदाज में प्रस्तुत करती ‘देव डी’, अनुराग कश्यप की फिल्में पारंपरिक दर्शकों को चौंकाने और उनकी अवधारणा को ध्वस्त करने के विशेष उद्देश्य से बनाई जाती रही हैं।

अनुराग जैसे सिनेकर्मियों की फिल्मों के आलोचक मानते रहे हैं कि उनकी फिल्मों में जो आक्रोश दिखता है उनमें कोई स्पष्ट उद्देश्य या वैचारिक आस्था नहीं होती वे सिर्फ आक्रोश होती हैं। जिसका कोई सामाजिक आधार भी नहीं होता, उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं होती। जबकि श्याम बेनेगल, केतन मेहता, गोविन्द निहलानी, प्रकाश झा जैसे फिल्मकारों की (‘राजनीति’ से पहले की) फिल्मों में, जिन्हें कला फिल्में या समानांतर फिल्में कहा जाता था, आक्रोश का एक सामाजिक-वैचारिक आधार होता था। हालांकि, इन फिल्मों का प्रशंसक एक दर्शक समूह होता था।

(जैसा कि अनुराग कश्यप की फिल्मों का भी एक छोटा प्रशंसक समूह है। वैसे, 'बॉम्बे वेलवेट' जैसी स्तरहीन फिल्म और हाल की 'रमण राघव' जैसी नकारात्मक फिल्म बनाकर वे तेजी से अपने उस प्रशंसक समूह को भी खोते दिख रहे हैं, लेकिन कला फिल्मों या समानांतर फिल्मों ने अपने जनाधार को खो दिया क्योंकि माना गया कि अति-यथार्थवाद के कारण ये फिल्में आम दर्शकों से दूर हो गईं। आम दर्शकों को जब ये फिल्में बोझिल लगने लगीं तो फिर इन फिल्मों में लगाए गए पैसे डूबने लगे। फिर, इनमें पैसे लगाने वाले पीछे हटते गए और कला फिल्में इतिहास में दर्ज हो गईं।

'पूरब पश्चिम', 'उपकार', 'शहीद', 'रोटी कपड़ा और मकान' जैसी फिल्में बना चुके और दादा साहेब फालके सम्मान से सम्मानित और अभिनेता-निर्माता-निर्देशक मनोज कुमार कहते हैं, "फिल्म में आक्रोश की अभिव्यक्ति आसान है, क्योंकि उसमें यथार्थ को जस का तस रख देना होता है। जबकि किसी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या धार्मिक विसंगति या मुद्दों पर लोकप्रिय फिल्में बनाना आसान नहीं होता। हमने और हमारे उस दौर के फिल्मकारों ने समाज और देश के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को समझ कर फिल्में बनाईं। हमारी फिल्मों ने पैसे भी बनाए लेकिन सिर्फ पैसे बनाना हमारा शगल नहीं था।"

पुराने दौर को देखें तो महबूब खान- हृषिकेश मुखर्जी, शक्ति सामंत, वी. शांताराम जैसे फिल्मकारों की फिल्मों में कला और व्यवसाय में जो संतुलन और सार्थक मिलन दिखता था, जाहिर है, उसे पाना आसान नहीं था।
अब हम मौजूदा हिंदी सिनेमा के फिल्मकारों की एक दूसरी जमात की तरफ आते हैं। यह जमात ऐसी फिल्में बनाती है जिनका कोई सामाजिक सरोकार होता है। जिनकी फिल्में समाज की किसी न किसी सामाजिक, पारिवारिक विसंगति की ओर लोगों का ध्यान खींचती हैं। ये फिल्मकार स्वतंत्र तो हैं लेकिन स्वच्छंद नहीं हैं। खास बात यह है कि इन फिल्मों को दर्शक इतना पसंद करते हैं कि निर्माताओं की झोली भर जाती है। 'ओएमजी', 'मुन्ना भाई एमबीबीएस', 'लगे रहो मुन्ना भाई', 'थ्री इडियट्स', 'रंग दे बसंती', 'नो वन किल्ड जेसिका' जैसी कई फिल्में ऐसी हैं, जिन्होंने अपने समय के महत्वपूर्ण मुद्दे उठाए और कमाई में बॉक्स ऑफिस के रिकॉर्ड भी तोड़ डाले।

अपनी फिल्मों में कला और व्यवसाय में गजब का तालमेल लेकर चलने वाले फिल्मकार राज कुमार हिरानी ने एक पुरानी बातचीत में इस लेखक से कहा था, "सिनेमा का मूल मकसद मनोरंजन करना है। सिनेमाघरों में दर्शक मनोरंजन के लिए पैसे खर्च करके आते है। उन्हें अगर राजनीतिशास्त्र या समाजशास्त्र में कोई ज्ञान चाहिए तो वे किसी कॉलेज में जाएंगे, लेकिन मनोरंजन के भी कई तरीके हैं। हम सस्ते चुटकुले और अश्लील दृश्यों से भी मनोरंजन कर सकते हैं या हम एक ऐसी फिल्म के जरिए आपका मनोरंजन कर सकते हैं जो आपकी संवेदनाओं को छू जाए। जहां तक मेरी बात है, मैं समझता हूं कि किसी फिल्मकार की एक बड़ी जिम्मेदारी यह होती है कि वह समाज को बेहतर बनाने उसकी नैतिकता के स्तर को और ऊपर उठाने में और बच्चों को बेहतर मूल्य की समझ देने में बड़ी भूमिका अदा कर सकता है। वह एक स्वस्थ और प्रगतिशील समाज बनाने में अपना योगदान देकर राष्ट्र निर्माण में बड़ा सहयोग कर सकता है।"

लेकिन आज के दौर में तथाकथित कला फिल्में या आक्रोश मुद्रा वाली फिल्में ('अगली', 'शैतान', 'द गर्ल इन येलो बूट') या सेक्स कॉमेडी ('हंटर', 'ग्रेट ग्रैंड मस्ती', 'क्या सुपर कूल हैं', 'मस्तीजादे') बनाने वालों

का तर्क यह रहा है कि फिल्मकारों का काम संदेश देना नहीं है, सिर्फ फिल्में बनाना है। अगर उनकी फिल्मों में अत्यधिक सेक्स, हिंसा, अश्लीलता या संबंधों की विसंगतियां दिखती हैं तो इसके लिए वे नहीं, बल्कि समाज दोषी है, क्योंकि समाज में यह सब होता है और वे समाज से ही अपनी कहानियां उठाते हैं।
ऐसे तर्क देने वालों में महेश भट्ट जैसे फिल्मकार भी हैं, जिन्होंने दो-तीन साल पहले अमेरिका और कनाडा के पोर्न इंडस्ट्री की एक चर्चित कर्मी (सनी लियन) को अपनी फिल्म 'जिस्म 2' में हीरोइन बनाकर पेश किया। उन पर पहले की ही तरह पैसे बनाने के लिए किसी भी हद तक नीचे गिरने और फिल्मों में अश्लीलता को बढ़ावा देने के आरोप लगे। लेकिन भट्ट पर कोई फर्क नहीं पड़ा। उस फिल्म ने भी खूब पैसे बनाए और इंडस्ट्री को एक भूतपूर्व पोर्न स्टार के रूप में एक अभिनेत्री मिल गई। दुर्भाग्य यह है कि भट्ट जैसे फिल्मकार भूल जाते हैं कि दुनियाभर की कालजयी फिल्मों की सूची में उन फिल्मों की संख्या कई गुना ज्यादा है जो बतौर फिल्मकार समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को शिद्दत से महसूस करने वाले फिल्मकारों ने बनाई हैं। वे सामाजिक सरोकारों से जुड़ी उनकी फिल्म 'सारांश' आज भी श्रेष्ठ फिल्म मानी जाती है।

यहां एक सवाल उठता है कि अक्षय कुमार, सलमान खान, हृतिक रोशन, आमिर खान जैसे बड़े सितारों की फिल्मों के कथानक और उसके निर्माण पर तो कई सवाल उठते रहे हैं, लेकिन आमतौर पर इनकी फिल्मों पर अत्यधिक हिंसा या सेक्स का महिमामंडन करने या अश्लीलता फैलाने का आरोप नहीं लगते। उनकी फिल्में सेंसर बोर्ड में भी नहीं अटकतीं। ऐसा क्यों ? ऐसा इसलिए कि वे समाज के हर वर्ग के लिए बनाई जाती हैं। ये सितारे यहां अपनी जिम्मेदारी को अच्छे तरीके से समझते हैं कि वे किसी खास तबके के सितारे नहीं हैं, बल्कि समाज के हर वर्ग और उम्र के लोगों के सितारे हैं। जिम्मेदारी के इस अहसास के पीछे भले ही फिल्म में लगने वाले करोड़ों रुपयों की वापसी या लाभ कमाना बड़ी वजह हो लेकिन सचाई यह है कि लोकप्रिय फिल्म सितारों ने शुरू से ही समाज के बड़े वर्ग को ध्यान में रखकर ही फिल्में बनाईं और स्वतंत्रता के नाम पर स्वच्छंदता से बचते रहे।

स्वतंत्रता के पैरोकार अनुराग कश्यप ब्रिगेड या सेक्स कॉमेडी ब्रिगेड की फिल्में समाज के युवा वर्ग को ध्यान में रखकर बनाई जाती हैं। उनके मुताबिक, युवा वर्ग इसी तरह की फिल्में देखना पसंद करता है तो सवाल यह है कि 'मस्तीजादे' और 'ग्रैंड मस्ती' जैसी सेक्स कॉमेडी क्यों पिट रही हैं ? अनुराग की 'अगली', 'रमण राघव' जैसी फिल्में क्यों बॉक्स ऑफिस पर औंधे मुंह गिर रही हैं ?

एक तर्क यह है कि समाज के प्रति जिम्मेदारी के अहसास के साथ फिल्में बनाने वाले फिल्मकार आज भी कम नहीं हैं, बस उस तरह की फिल्मों में पैसे लगाने वाले कम हो गए हैं। क्या ऐसी फिल्मों के दर्शक नहीं बचे हैं ?

नामी फिल्म आलोचक सैबल चटर्जी कहते हैं, "फिल्मकारों को इस बात की स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वे किस तरह की फिल्म बनाना चाहते हैं, लेकिन व्यक्तिगत तौर पर मैं सार्थक फिल्मों का पैरोकार हूं। लेकिन दुर्भाग्य से हमारी फिल्म इंडस्ट्री का अर्थशास्त्र बड़ी और मसालेदार फिल्मों को ही समर्थन देता है और सिनेमाघर सिर्फ ऐसी ही फिल्में लगाना चाहते हैं। छोटी और सार्थक फिल्में देखने के इच्छुक दर्शकों का एक बड़ा समुदाय है।"

उनकी इस बात में दम भी है। आज सार्थक और समाज को प्रेरित करने वाली फिल्मों के दर्शकों की संख्या अनगिनत है। इनकी अनदेखी करके फूहड़ता परोसना किसी भी नजरिए से ठीक नहीं है।

(लेखक वरिष्ठ फिल्म समीक्षक हैं)

साभार- http://panchjanya.com// से